

अनेकान्त, अहिंसा तथा अपरिग्रह की अवधारणाओं का मूल्यांकन : आधुनिक विश्व समस्याओं के सन्दर्भ में

- डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा

जैनधर्म-दर्शन का विकास ई. पूर्व 6ठीं शताब्दी में जैन परम्परा के 24वें तीर्थंकर भगवान् महावीर के द्वारा हुआ, किन्तु इसका उपयोग सिर्फ उसी युग के लिए था, ऐसा मानना सर्वथा अनुचित होगा क्योंकि जैनधर्म-दर्शन ने अपने को जिन-जिन रूपों में प्रस्तुत किया है, वे आज भी संगत हैं और आगे भी मानव ही नहीं बल्कि प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी साबित होंगे।

जैनदर्शन समन्वयवादी है क्योंकि इसमें विभिन्न मत-मतान्तरों को समाहित देखा जाता है। यह मानवतावादी है क्योंकि यह सम्पूर्ण मानवसमाज का हितकारी है। यह प्राणीवादी है क्योंकि इसकी चिन्तन प्रणाली में समस्त प्राणियों के सुख सन्निहित हैं। यह समतावादी है क्योंकि यह स्वीकार करता है कि सभी जीव अनन्त-द्युष्टय के धारक होते हैं। सब के सुख-दुःख समान होते हैं, इतना ही नहीं बल्कि जैनदर्शन स्वतन्त्रतावादी है क्योंकि यह मानव को ईश्वरीय दासता से मुक्त करता है।

जैनदर्शन समन्वयवादी है, इसमें कोई शक नहीं परन्तु आशंका इस बात को लेकर होती है कि समन्वय इसकी सहजता है अथवा उद्देश्य ? इसका जैसा भी स्वरूप है उससे स्वभावतः समन्वय प्रस्फुरित होता है या समन्वय को उद्देश्य मानकर उसके अनुकूल इसका रूप खड़ा किया गया है। अधिक लोग यह मानते हैं कि भगवान् महावीर ने जिस तत्त्वमीमांसा या ज्ञानमीमांसा या आचारमीमांसा का प्रतिपादन किया है, उसमें स्वभावतः समन्वय अंकुरित होता है, जो समाज को सद्भाव एवं शान्ति प्रदान करता है। समन्वय लाने के उद्देश्य से महावीर ने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु भगवान् महावीर का जिस युग में प्रादुर्भाव हुआ और जिस समाज में उनका पालन-पोषण हुआ, उन्हें देखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने समाज एवं वातावरण को समझते हुए समन्वयवाद का प्रतिपादन किया। ऐसा मानना भी कोई अमर्यादित नहीं जान पड़ता क्योंकि समाज में सद्भाव स्थापित करने के लिए एक महात्मा का किसी विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन करना उसके स्वभावानुकूल ही है। जैनागमों के अनुसार महावीर के समय में जैनमत के अतिरिक्त भारत में 363 मतों का प्रचार-प्रसार हो रहा था। बौद्धत्रिपिटक भी बताते हैं कि बुद्ध के समय में बौद्ध-दर्शन के अतिरिक्त 62 चिन्तन प्रणालियाँ थीं। उन सिद्धान्तों में कोई सामान्यवादी था तो कोई विशेषवादी, कोई नित्यतावादी था तो कोई अनित्यतावादी, कोई अद्वैतवादी था तो कोई द्वैतवादी, कोई पूर्णतः भौतिकवादी था तो कोई सर्वशतः अध्यात्मवादी। उन विविधताओं के बीच टकराव के कारण समाज हासोन्मुख था। क्या उस समय की सामाजिक स्थिति ने भगवान् महावीर जैसे लोक-हितैषी व्यक्ति को समाजोद्धार करने को प्रेरित नहीं किया होगा ? यदि अपनी परिस्थिति से प्रेरित एवं प्रभावित होकर महावीर ने अपना दर्शन प्रस्तुत किया, तो ऐसा कहा जा सकता है कि समन्वयवाद उनका उद्देश्य था। भगवतीसूत्र की यह उक्ति कि महावीर ने स्वयं में स्व-चित्र-विचित्र पुंस्कोकिल को देखा, जिसके कारण वे स्व-पर-सिद्धान्तों की समानता प्रतिष्ठित करने को प्रेरित हुए। पुंस्कोकिल उनके अनेकान्तवाद अथवा सापेक्षतावाद को ही इंगित करता है। स्वप्न व्यक्ति की मनसा का द्योतक होता है। स्वप्न में पुंस्कोकिल को देखना यह बताता है कि महावीर के मन में विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच सामंजस्यता लाने की बात थी अर्थात् उनका समन्वय सोद्देश्य था। ऐसे तो समन्वयवाद के कारण जैनदर्शन और पाश्चात्य आधुनिक चिन्तक काण्ट के विचार बहुत निकट हैं, पर यदि यह मान लिया जाए कि महावीर का समन्वयवाद सोद्देश्य है, तो दोनों के बीच और अधिक सामीप्य दृष्टिगोचर होने लगता है क्योंकि अपने समय के

दो विरोधी मतों -- बुद्धिवाद तथा अनुभववाद की आपसी कटुता को दूर करने के लिए ही उन्होंने अपना समीक्षावाद प्रस्तुत किया था, जिसमें बुद्धिवाद तथा अनुभववाद सहभागी के रूप में समन्वित होते हैं।

जैनदर्शन मूलतः सापेक्षतावादी है। अनेकान्त, स्याद्वाद, अहिंसा, अपरिग्रह सभी सापेक्षतावाद के ही विविध रूप हैं। यदि इन सिद्धान्तों से सापेक्षता हटा ली जाए तो ये अर्थहीन हो जाएँगे। मानवसमाज में सापेक्षता का बड़ा ही महत्त्व है। वक्ता बोलता है और श्रोता सुनता है। वक्ता श्रोता के बिना और श्रोता वक्ता के बिना कोई अर्थ नहीं रखता। वक्ता और श्रोता एक दूसरे के सापेक्ष हैं, पर यह सापेक्षता भगवान् महावीर की चिन्तन प्रणाली में किस तरह प्रभावित एवं पुष्पित होती है उसे समझने के बाद ही हम निर्णय कर सकते हैं कि आधुनिक युग के लिए इनके पास कोई मूल्य है अथवा नहीं। सापेक्षता को तत्त्वमीमांसा में अनेकान्त की संज्ञा दी गई है। अनेक अपेक्षाओं, अनेक सीमाओं, अनेक दृष्टियों में विश्वास करने वाला सिद्धान्त अनेकान्तवाद के नाम से जाना जाता है। अनेकान्तवाद का अपना एक आधार है जो तत्त्व के विवेचन से निरूपित होता है। जैनमत में किसी भी वस्तु या तत्त्व के अनन्त धर्म होते हैं जिनमें कुछ विधि रूप तथा अन्य निषेध रूप। विधि और निषेध भी एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। विधि के बिना निषेध नहीं, निषेध के बिना विधि नहीं। विधि और निषेध धर्मों के आधार पर ही किसी वस्तु का सही बोध हो पाता है। किसी वस्तु के सभी धर्मों का बोध सामान्य व्यक्ति को नहीं होता। जो सर्वज्ञ या केवली होते हैं, वे ही किसी वस्तु को पूर्णतः जान पाते हैं। साधारण व्यक्ति किसी वस्तु के एक धर्म को या अनेक धर्मों को जान पाता है जो क्रमशः नय और प्रमाण की दृष्टियाँ मानी गई हैं। साधारण व्यक्ति का ज्ञान सीमित एवं सापेक्ष होता है। जैनाचार्यों ने सापेक्षता के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए अन्धगजन्थाय का उदाहरण दिया है। अन्धों ने हाथी का ज्ञान उसे स्पर्श करके प्राप्त किया। उन लोगों का ज्ञान सीमित था तथा अपनी-अपनी अपेक्षाओं से था, किन्तु उन लोगों ने अपने ज्ञान को पूर्ण और निरपेक्ष बताया। जब उन लोगों से हाथी के सम्बन्ध में पूछा गया तो किसी ने कहा हाथी रस्सी की तरह होता है, तो किसी ने कहा कि हाथी खम्भे की तरह होता है क्योंकि उन लोगों ने क्रमशः हाथी की दुम तथा उसके पैर स्पर्शित किए थे। आंशिक ज्ञान को पूर्ण तथा सापेक्ष ज्ञान को निरपेक्ष बताने की गलती अन्धों की तरह आँख वाले लोग भी करते हैं। एक व्यक्ति किसी वस्तु के सम्बन्ध में जितना जानता है उसी को पूरा ज्ञान मानकर दूसरे को गलत ठहराने की कोशिश करता है। वह ऐसा नहीं समझता है कि वस्तु के अनन्त धर्मों में से किन्हीं सौ, दो सौ, पाँच सौ या हजार धर्मों को वह जानता है तो अन्य सौ, दो सौ, पाँच सौ, हजार धर्मों को दूसरा व्यक्ति भी जान सकता है। जब कोई व्यक्ति अपने को सही और दूसरे को गलत बताता है तो यहीं विवाद शुरू होता है, जो आगे चलकर कलह एवं युद्ध का रूप धारण करता है। झगड़ा परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व किसी भी स्तर पर हो उसके पीछे वैचारिक मतैक्य का अभाव ही देखा जाता है। कहा जाता है कि जैसा विचार वैसा आचार। यदि विचार के विरोध नहीं हैं, तो आचार में भी विरोध सम्भव नहीं है। आदमी का यह स्वभाव तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु आदत जरूर कही जा सकती है कि वह दूसरे की सही बात को मानना नहीं चाहता है और अपनी गलत बात को भी तर्क या कुतर्क से सही प्रमाणित करना तथा दूसरे पर लादना चाहता है। अनेकान्तवाद हमें वैचारिक-सहिष्णुता का पाठ पढ़ाता है। परिवार में पिता-पुत्र, सास-बहू समाज में फैले हुए विभिन्न धर्म तथा विश्व में अनेक राष्ट्र एक-दूसरे के विचार से असहमत देखे जाते हैं। सर्वत्र पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक अशान्ति व्याप्त है। यदि हम अनेकान्तवाद के मार्ग पर चलते हैं, तो हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि हमारे विचार के साथ ही हमारे मित्र, पड़ोसी, पड़ोसी-राष्ट्र, पड़ोसी-धर्म के भी विचार सही हैं या हो सकते हैं। ऐसा मान लेने पर आपसी सद्भाव जागृत होता है और सुख-शान्ति की उपलब्धि होती है।

अपनी आचार-मीमांसा में जैनदर्शन अहिंसावाद का प्रतिपादन करता है। अहिंसा शब्द निषेधात्मक है, किन्तु प्रेम, सद्भाव, सहायता, दान आदि इसके विधेयात्मक रूप भी हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा का विस्तारपूर्वक

विवेचन मिलता है। उस विवेचन में अहिंसा के जो साठ नाम बताए गए हैं, उनसे साफ ज़ाहिर होता है कि प्राणिमात्र के कल्याण के जो भी रूप हो सकते हैं, वे सभी इसमें समाहित हैं। यद्यपि जैनदर्शन अनेकान्तवादी है परन्तु जब अहिंसा की बात आती है, तो यह अद्वैतवादी या अभेदवादी जान पड़ता है क्योंकि यह सभी प्राणियों को एक जैसा मानता है। समानता को देखते हुए ही यह व्यक्त करता है कि आत्मा एक है। आचारंगसूत्र में कहा गया है --

*"जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परित्याग देना चाहता है, वह तू ही है।"*

उपाध्याय अमरमुनिजी के शब्दों में -- "भगवान महावीर का अहिंसाधर्म एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक एवं सामाजिक धर्म है। यह मानव जीवन को अन्दर और बाहर दोनों ओर से प्रकाशमान करता है। महावीर ने अहिंसा को भगवती कहा है। मानव की अन्तरात्मा को अहिंसा भगवती, बिना किसी बाहरी दबाव, भय, आतंक अथवा प्रलोभन के सहज अन्तःप्रेरणा देती है कि मानव विश्व के अन्य प्राणियों को भी अपने समान समझे, उनके प्रति बिना किसी भेदभाव के मित्रता एवं बन्धुता का प्रेमपूर्ण व्यवहार करे। मानव को जैसे अपना अस्तित्व प्रिय है, अपना सुख अभीष्ट है, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी अपना अस्तित्व तथा सुख, प्रिय एवं अभीष्ट है -- यह परिबोध ही अहिंसा का मूल स्वर है। अहिंसा "स्व" और "पर" की, "अपने" और "पराए" की, "घृणा" एवं "बैर" के आधार पर खड़ी की गई भेद-रेखा को तोड़ देती है।¹

अहिंसा का सिद्धान्त रचना में विश्वास करता है, ध्वंस में नहीं। विश्व में जो भी रचनात्मक एवं कल्याणकारी गतिविधियाँ हैं, उनके पीछे किसी न किसी रूप में अहिंसा ही काम करती है। हिंसा नाशकारी होती है। बैर, द्वेष, घृणा, लोभ, क्रोध आदि हिंसा के ही रूप हैं और इन्हीं से समाज का विध्वंस होता है। इसके विपरीत अहिंसा प्रेम, स्नेह, अपनापन एवं सद्भाव का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्से सुखमय सामान्य की रूपरेखा बनती है। यदि अहिंसा नहीं होती तो आज का समाज या विश्व चाहे वह जिस रूप में भी क्यों न हो, दिखाई नहीं देता। यदि मनुष्यों के बीच आपसी स्नेह, सद्भाव एवं अपनापन नहीं होते तो रिश्तेनाते भी नहीं बन पाते। रिश्तेनातों के अभाव में परिवार नहीं बनता; परिवार के अभाव में समाज, समाज के अभाव में राष्ट्र और राष्ट्र के अभाव में विश्व नहीं होता। विश्व अहिंसा पर ही आधारित है। अहिंसा के अभाव में इसका हास हो सकता है, विकास नहीं। अतः विश्व-कल्याण के लिए अहिंसा अनिवार्य है।

हिंसा से हिंसा को नहीं जीत सकते, किन्तु अहिंसा से हिंसा को अपने वश में कर सकते हैं। इसीलिए मसीह ने कहा था-- "जब तुम्हें कोई व्यक्ति तुम्हारी गाल पर एक तमाचा मारता है तो उसके सामने अपनी दूसरी गाल भी कर दो।" स्नेह और सेवा के कारण ही आज मसीहीधर्म विश्व के कोने-कोने में फैला हुआ है। अहिंसा के अभाव में विश्व-शान्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। उपाध्याय अमरमुनिजी के ही शब्दों में-- "आज जो विश्व नागरिक की कल्पना कुछ प्रबुद्ध मस्तिष्कों में उड़ान ले रही है, "जय जगत्" का उद्घोष कुछ समर्थ चिन्तकों की जिह्वा पर मुखरित हो रहा है, किन्तु उसको मूर्तरूप अहिंसा के द्वारा ही मिलना सम्भव है।²

अपरिग्रह जैनदर्शन की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। अपरिग्रह के बिना अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। यदि अहिंसा का पालन नहीं होता है तो समाज का कल्याण सम्भव नहीं है। आवश्यकता से अधिक संचय करना परिग्रह है और आवश्यकतानुसार एवं संयमित ढंग से संग्रह करना अपरिग्रह है। बौद्धदर्शन में अष्टांगमार्ग को

बताते हुए "सम्यग्जीव" की चर्चा होती है। व्यक्ति को संयमित ढंग से अपनी आजीविका को उपलब्ध करना चाहिए। अपरिग्रह का आध्यात्मिक महत्त्व के साथ ही सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक महत्त्व भी है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसके आध्यात्मिक महत्त्व को बताने के लिए धन-संग्रह की निन्दा की गई है।

"धन न तो लोक में शरण देता और न ही परलोक में।" दीपक के बुझ जाने पर अन्धकार में देखा हुआ मार्ग भी नहीं दिखाई पड़ता है। उसी तरह पौद्गलिक वस्तु के मोह में उचित मार्ग को देखना न देखना के बराबर हो जाता है। धर्म का पालन तो ममता के त्याग से होता है।³

जब समाज में एक व्यक्ति आवश्यकता से अधिक संचय करने लगता है, तो अन्य लोगों की सुख-सुविधाएँ छिन जाती हैं। कोई खाते-खाते मरता है, तो कोई खाये बिना मरता है। कोई व्यक्ति अपने बेटे-पोते के लिए संग्रह करता जाता है और कोई अपने पेट को भरने में भी असमर्थ रहता है। परिग्रह असमानता को जन्म देता है। इसके कारण ही राजतन्त्र बनता है, जिसमें राजा और प्रजा इन दो वर्गों में समाज बँट जाता है। पूँजीवाद में मालिक और मजदूरों का समाज परिग्रह के कारण ही बनता है। समाज में अनेक प्रकार के दुराचार, अनाचार, अत्यधिक धन-संचय की वजह से ही होते हैं। अपरिग्रह से समानता आती है, जिससे समाजवाद को बल मिलता है। समाजवाद अपरिग्रह के ही फलस्वरूप जन्म लेता है और विकसित होता है। इसलिए प्राचीनकाल से आज तक चिन्तकों ने अपरिग्रह को अपनाने का उपदेश दिया है। अपरिग्रह का ही एक रूप प्रसिद्ध आधुनिक समाजवादी चिन्तक कार्लमार्क्स की चिन्तन पद्धति में मिलता है। शोषण करने वाले पूँजीपतियों से शोषित मजदूरों को छुटकारा तथा गरीबों को समान अधिकार दिलाने के लिए उन्होंने अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। पहले अतिरिक्त मूल्य के अधिकारी पूँजीपति हुआ करते थे, किन्तु मार्क्स ने कहा कि अतिरिक्त मूल्य में मजदूरों को भी समान अधिकार मिलना चाहिए अर्थात् मजदूर भी अतिरिक्त मूल्य के भागीदार हो सकते हैं। इससे पूँजीपतियों द्वारा किए जाने वाले परिग्रह पर नियन्त्रण होता है। इसमें एक बात ध्यान देने की है कि जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित अपरिग्रह सिद्धान्त परिग्रहवृत्ति के त्याग को प्रधानता देता है, जबकि कार्लमार्क्स का सिद्धान्त कानूनी तौर पर संग्रह को रोकना चाहता है। यदि कानूनी ढंग से परिग्रह को रोक दिया जाता है, तो वह समाज के लिए लाभदायक होता है, परन्तु यदि मन से संग्रहवृत्ति को रोकने का प्रयास होता है, तो वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिये श्रेयस्कर है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. चिन्तन की मनोभूमि, पृ. 251
2. वही, पृ. 251
3. उत्तराध्ययनसूत्र, 4/4